

सम्यक्त्व स्वरूप

— १२० —

सम्यक्त्व स्वरूप

सम्यक्त्व स्वरूप

सम्यक्त्व स्वरूप

सम्यक्त्व स्वरूप

सम्यक्त्व स्वरूप

सम्यक्त्व स्वरूप

सम्यक्त्व स्वरूप

中華民國二十九年 五月二十日

行政院秘書處

一	行政院秘書處	秘書長	秘書
二	行政院秘書處	秘書長	秘書
三	行政院秘書處	秘書長	秘書
四	行政院秘書處	秘書長	秘書
五	行政院秘書處	秘書長	秘書
六	行政院秘書處	秘書長	秘書
七	行政院秘書處	秘書長	秘書
八	行政院秘書處	秘書長	秘書
九	行政院秘書處	秘書長	秘書
十	行政院秘書處	秘書長	秘書
十一	行政院秘書處	秘書長	秘書
十二	行政院秘書處	秘書長	秘書
十三	行政院秘書處	秘書長	秘書
十四	行政院秘書處	秘書長	秘書
十五	行政院秘書處	秘書長	秘書
十六	行政院秘書處	秘書長	秘書
十七	行政院秘書處	秘書長	秘書
十八	行政院秘書處	秘書長	秘書
十九	行政院秘書處	秘書長	秘書
二十	行政院秘書處	秘書長	秘書
二十一	行政院秘書處	秘書長	秘書
二十二	行政院秘書處	秘書長	秘書
二十三	行政院秘書處	秘書長	秘書
二十四	行政院秘書處	秘書長	秘書
二十五	行政院秘書處	秘書長	秘書
二十六	行政院秘書處	秘書長	秘書
二十七	行政院秘書處	秘書長	秘書
二十八	行政院秘書處	秘書長	秘書
二十九	行政院秘書處	秘書長	秘書
三十	行政院秘書處	秘書長	秘書

[ग]

ही निर्णय करें। यह विषय ही महान् गम्भीर है जिसका प्रतिपादन सरल नहीं है विद्वज्जन इस पर विस्तृत विवेचन कर सकते हैं परन्तु मैं तो अपने अनुभव जितना ही कर रहा हूँ अतः संक्षिप्त में यह निबन्ध तैयार किया है।

यह साहित्य सम्पादन करके मैं मंडल आफिस को समर्पण करता हूँ वे मेरी सेवा मानकर इसे प्रकाशित करें जिससे जनता को लाभ मिले। किमधिकम्।

भवदीय-

बालचन्द्र श्रीश्रीम

THE UNIVERSITY OF CHICAGO

[illegible][illegible]

第一、二、三、四、五、六、七、八、九、十、十一、十二、十三、十四、十五、十六、十七、十八、十九、二十、二十一、二十二、二十三、二十四、二十五、二十六、二十七、二十八、二十九、三十、三十一、三十二、三十三、三十四、三十五、三十六、三十七、三十八、三十九、四十、四十一、四十二、四十三、四十四、四十五、四十六、四十七、四十八、四十九、五十、五十一、五十二、五十三、五十四、五十五、五十六、五十七、五十八、五十九、六十、六十一、六十二、六十三、六十四、六十五、六十六、六十七、六十八、六十九、七十、七十一、七十二、七十三、七十四、七十五、七十六、七十七、七十八、七十九、八十、八十一、八十二、八十三、八十四、八十五、八十六、八十七、八十八、八十九、九十、九十一、九十二、九十三、九十四、九十五、九十六、九十七、九十八、九十九、一百。

शस्यानिवापेरेक्षेत्रे, निचिप्तानिकदाचनः ॥

नव्रतानि प्ररोहन्ति, जीवेमिथ्यात्व वासिनः ॥१॥

संयमा नियमां सर्वे नश्यन्ते तेनपावनाः ॥

क्षयकालानलेनेव, पादपाः फलशायिनः ॥२॥

भावार्थ—क्षारयुक्त उपर भूमि में बीज डालने से जिस प्रकार बीज नष्ट होजाता है उसी प्रकार जिसका आत्मा मिथ्यात्व रूपी क्षार से युक्त है उसके सभी व्रतादि फल दायक नहीं होते ॥ १ ॥ ऐसे जीवों के संयम, नियम, तपाचरण आदि उसी प्रकार नष्ट होजाते हैं जैसे प्रलय काल के पवन से फूला फला वृक्ष नष्ट होजाता है ॥२॥

इससे यह सिद्ध होता है कि सब से प्रथम इस आत्मा को सम्यक्त्व की प्राप्ति होना आवश्यक है । क्यों कि सम्यक्त्व ही मोक्ष का बीज माना गया है । बिगेर बीज के फल की उत्पत्ति नहीं हो सकती । जब बीज होगा और वह अच्छी ऊपजाऊ भूमि में बोया जायगा तभी फल की निष्पत्ति होगी । इस लिये आत पुरुषों ने सब से प्रथम आत्मा को सम्यक्त्व की प्राप्ति होना आवश्यक बताया है । इसकी विशेष वर्णन करते हुए, तत्त्वज्ञों ने कहा है कि—

“सम्यग् जीवस्तद्भावः सम्यक्त्वं प्रशस्तो मोक्षोऽ-
विगेधोवा प्रशम संवेगादि लक्षण आत्मधर्मः” अर्थात्
मिथ्यात्वादि विदरीतताओं को करके रहित, प्रशस्त एवं मोक्ष के अविरोधी

सम्यक्त्व की दुर्लभता



जीवात्मा को अपना आत्म भान भूलाने वाला अष्ट कर्मों में प्रधान राजा समान एक मोहनीय कर्म है जिसकी अठावीस प्रकृतियाँ हैं उन सब में प्रबल और बलवान प्रकृति “मिथ्यात्व मोहनीय” ही है। जब तक इस प्रकृति का प्रबल उदय रहता है तब तक आत्मा को “धर्म” शब्द ही प्यारा नहीं लगता तब सम्यक्त्व तो हो ही कैसे सके ? मोहनीय कर्म की प्रकृतियों को ज्ञानियों ने दोविभागों में विभक्त कर दी हैं दर्शन मोहनीय (१) और चारित्र मोहनीय (२)। दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियाँ हैं और चारित्र मोहनीय की पचीस। जहाँ तक दर्शन मोहनीय का ‘मिथ्यात्व मोहनीय, प्रकृति उदय मान रहती है वहाँ तक चारित्र मोहनी की सभी प्रकृतियाँ वैसी ही बलवती बनी रहती हैं किन्तु जब आत्मा बलवान होकर इस मिथ्यात्व मोहनीय प्रकृति को दबावे इस का क्षय उपसम या क्षयोपशम करदे उस समय आत्मा के जो विशुद्ध परिणाम होते हैं उन परिणामों को ही तत्त्वदर्शियों ने सम्यक्त्व कहा है।



उसका आवाज सुनकर वे छारियें भगी, जिन के साथ वह सिंह का वच्चा भी भाग गया। कहावत है कि "सोचते असर" जैसी सोच में रहे वैसा ही बन जाय। एक रोज वह सिंह का वच्चा उन छारियों के साथ किसी नदी के किनारे पानी पीनेको गया पानी पीते-२ पानी में अपनी परछाई देख कर वह वच्चा सोचने लगा कि मेरा आकार और रंग रूप दूसरी तरह का है और इन छारियों का (मेरी साथिनियों) का दूसरी तरहका। मेरा स्वरूप तो उस गर्जन करने वाले वनराज जैसा मालूम देता है तब क्या मैं उसकी तरह नहीं गाज सकुं? यह समझ कर उसने भी वह ललकार लगाई तो आस पास की छारियें आवाज सुनते ही तितर-बितर होगई और जान लेकर भगी फिर वह अकेला ही जंगल में रहने लगा और निर्भय बन गया इस प्रकार जब आत्मा को भी अपने स्वरूप का भान हो जाता है तब पौद्गलिक पर्यायों में जो अपनापन मान रखा था उससे अपनापन हटोलेता है और अपने शुद्ध स्वरूप की मस्ती में सिद्ध स्वरूप बन जाता है।

निश्चय समकित वाला अपने आत्मा की विशुद्ध दशा को ही देव गुरु और धर्म मानता है वह परावर्त्तनी नहीं किन्तु स्वावर्त्तनी होता है प्रिय धर्म और दृढ़ धर्म होता है अडिग होता है उसे कोई भी देव दानव गांधर्व पिशाच भूतादि सम्पत्कत्व से चलायमान और क्षुभित नहीं कर सकता जैसे कामदेवजी या अरगुकजी श्रावक के आगे देवोंको भी हार माननी पड़ी थी किन्तु उन्हें क्षुभित नहीं

हे इसलिये शुद्ध श्रद्धान की प्राप्ति के हेतु शुद्ध देव शुद्धगुरु के शुद्ध धर्म की प्राप्ति का उद्योग करना चाहिये । शुद्ध श्रद्धान से आत्मा अनादि संसार रूप सन्ततिता उच्छेद कर के परमपद की प्राप्ति सुखभता से प्राप्त कर लेता है इसलिये यहाँपर शुद्ध देवगुरु और धर्म का बोध होने के लिये इनका स्वरूप आगमोक्त बताया जाता है ।



(११) जुगुप्सा काम (१२) मिथ्यात्व (१३) अज्ञान (१४) निद्रा (१५) राग (१६) द्वेष एवं अव्रत (१७) इन दोषों सहित महापुरुष देवाधिदेव ही शुद्ध देव है जिनको जैन कारणोंने अरिहन्त या तीर्थंकर के सम्बोधन से सम्बोधित किये इसमें किसी व्यक्ति विशेष का नाम निर्देश या पक्षपात नहीं है दोषों से बचेहुए महापुरुष जो अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन अचरित्र और अनन्त वीर्यरूप अनन्त चतुष्टय तथा अष्टमहाप्रतिमों से सुसोभित परम धर्म के उपदेष्टा है वे ही शुद्ध देव हैं उनके दृढ़ विश्वास रखना शुद्ध देवत्व की श्रद्धान् कहलाती है ।

गुरु के लक्षण बताते हुए ऊपर की गायामे कहा है :
“सगुरु विबम्भयारी आरम्भ परिगहा विरऔ”
 विशुद्ध नववाङ्म सहित ब्रह्मचर्य को धारण करने वाले और आरम्भ परिग्रह से विरक्त पंचमहाव्रतों का त्रिकरण शुद्धि से करते हैं तथा इत्यादि पाँचसमिती का सेवन करने वाले तीन प्रकार की गुणियों द्वारा आत्मा को गोपने वाले शुद्ध आत्मतत्त्व की गोपना करने वाले और आप्त वचनों अर्थात् निर्मन्य प्रवचनों को प्रवर्तने वाले हैं घोरातिथोर परिसहो और उपसगोंसे मय न होकर धीर वीर गंभीर हैं वे ही महापुरुष शुद्धदेव और शुद्ध तत्त्वकी पहिचान कराने में समर्थ होते हैं ऐसे गुणयुक्त गुरु मन्द सम्प्रदाय या समाज में हो वे ही आदरणीय हैं ।

(१२) तुष्टासक्त काय (१३) विनयान्न (१४) अस्मान् (१५) निद्रा (१६) राग (१७) देव पुत्र अन्न (१८) इव देवो
 मन्दित महापुरुष देवतादेव की शुद्ध देव दे भित्तको जेन हि
 कायने अग्नित या तीव्रकर के भवोपन से भवोपन भि
 इभं किमी व्यक्ति विशेष का नाम निद्रा या पराणा नही है
 दोषो में वनेदुष्ट महापुरुष को अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन क
 परित्र और अनन्त वीर्यत्व अनन्त जगद्विषय तथा अष्ट प्रहसिके
 से सुसंभित परम धर्म के गुणद्वारा दे वे ही शुद्ध देव दे उत्कृष्ट
 द्रष्ट विश्वास रखना शुद्ध देवत्व की अद्वान् कहलाती है ।

गुरु के लक्षण बताते हुए उपर की गायामे कहा है
“सगुरु विवम्भयारी आरम्भ परिग्रहा विरमो”
 विशुद्ध नववाद सहित ब्रह्मचर्य को धारण करने वाले और
 आरम्भ परिग्रह से विरक्त पंचमहाव्रतों का विकारण शुद्धि सेव
 करते हो तथा इषादि पांचसमिती का सेवन करने वाले तीन
 को गुप्तियों द्वारा आत्मा को गोपने वाले शुद्ध आत्मतत्व की गोप
 करने वाले और आप्त वचनों अर्थात् निर्गन्ध प्रवचनों को
 के प्रवर्तने वाले है घोरातिघोर परिसहो और उपसर्गोंसे भ
 न होकर धीर वीर गंभीर है वे ही महापुरुष शुद्धदेव और शुद्ध
 तत्वकी पहिचान कराने में समर्थ होते है ऐसे गुणयुक्त गुरु
 गच्छ सम्प्रदाय या समाज में हो वे ही आदरणीय हैं ।

सम्यक् दृष्टि के कर्तव्य

③

सम्यक् दृष्टि पुरुष सम्यक्तर प्रवृत्ति करने के पदार्थ अर्थात् अद्वान् की पुष्टि और रक्षा के लिये तथा देव श्रेय उपादेय के समझने लिये प्रथम नवतय पट द्रव्य सात नव चार निशेषादि के तत्त्व फिल्लासकी का बोधकरने के वास्ते ज्ञानाभ्यासकरे क्यों कि सम्यक् ज्ञान ही आत्मा को निजानन्द में रमण करने और परभाव से छुड़ाने का परमोत्कृष्ट साधन है सूत्रोंमें जहाँ २ श्रावक का वर्णन आया है वहाँ प्रथम ही यह पाठ आये है कि "अभीगम्य जीव जीवे उवलद्व पुण्य पावे आसव संवर निजरा किरिया अहि गरण बन्ध मोक्ष कुशले" अर्थात् जीव और अजीव को जिन्होंने भीतर भेद प्रभेद करके जाना है पुण्य और पापका फल विषयक ज्ञान जिनको उपलब्ध हुआ है यानि जिस समय पुण्य राशि बड़े ऋद्धि सिद्धि की वृद्धि हो पश सोभाग्य कैल सम्पत्तिका आगमन हो उस समय सम्यक् दृष्टि अभिमान में न आतेहुए यों समझे कि मेरे पुण्य प्रकृतियों का उदय हुआ है जिससे ये सब शुभ संयोग मिले और मिल रहे हैं इसमें मेरा क्या है जहाँ तक पुण्य का है वहाँ तक सब संयोग टिकेगे और जिस समय पाप प्रकृतियों के

सम्यक्त्व की श्रेणियाँ

ॐ

सम्यक्त्व पाँच प्रकार की है—क्षायिक क्षयोपशमिक औपसमिक और स्वादान । इनका स्वल्प संक्षेप में कहा जाता है ।

१ **क्षायिक**—अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया क्रोम मिथ्या मोहनीय मिथ्र मोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय इन सात प्रकृतियों का सर्वथा (छुट कर देने से) अभाव होजाने से आत्मा के अत्यन्त विशुद्ध परिणाम होते हैं उसे ज्ञानियों ने क्षायिक सम्पत्त कहाँ है ऐसी क्षायिक सम्पत्त को प्राप्त करने वाला या तो उ भव से मोक्ष पाता है अन्यथा तीसरे भव से अवश्यही मोक्ष पा है यह सम्पत्त आने बाद जाती नहीं जिसको शादी अपर्यवर्त भागे में मानी गई है ।

२ **औपसमिक**—उपरोक्त सातों प्रकृतियों उदय में आ वाली है उनका उपसमनकर दिया जाता है जो सत्ता से तो आ नहीं और उदय में रहती नहीं यह सम्पत्त चतुर्थ गुण स्थान ग्यारहवें गुण स्थानक के जीवों में होती है इसकी स्थिति मुहुर्न मात्र होती है पश्चात् या तो क्षयोपशमिक सम्पत्त में

में तथा गुण स्थान द्वार के अनुसार वैदक सम्पत्तव की स्थिति उत्कृष्टी ६६ छासट सागरोपम माभेरी भी बतायी है जिसका आशय यह है कि क्षयोपसमिक सम्पत्तव में सम्पत्तव मोहनीय व वेदन होता है इस लिये इसे भी अपेक्षाकृत वैदक मानी जाती है जिसका अपर नाम है क्षयोपसमवैदक सम्पत्तव ।

५ साखादान सम्पत्तव—यह सम्पत्तव समकित पाकर उठे गिरते समय की है जैसे वृक्ष पर से फल टूट कर निचे गिरता है सो जहाँ तक वृक्ष से छुट कर पृथ्वी पर नहीं गिरता है मार्ग में है उसी तरह सम्पत्तव में रहते हुए जीव को अनन्तानुबन्धी का उदय होगया परन्तु मिथ्यात्व मोहनीय का उदय नहीं हुआ उस समय तक तो साखादान सम्पत्तव कहलाती है सोकि अनन्तानुबन्धी चोकि उ उदय हुआ तो मिथ्यात्व मोहनीय का उदय अवश्यभावी है क्योंकि ये सशरीर प्रकृतियें हैं इसकी स्थिति जवन्य एक समय और उत्कृष्ट ६ छः अवलि का प्रमाण है बाद मिथ्यात्व में चला जाता है ।

इन पांच सम्पत्तव में से एक अधोमुखी है शेष चार उपर मुखी है चार सम्पत्तव से तो आत्मा बिकाश को पाता है कि साखादान सम्पत्तव बिकाश को रोक्ती है क्योंकि यह अधोमुखी है किन्तु कुछ कम अर्ध मुद्रागल परिवर्तन काल से उपादा नई हो सकती फिर तो वह परमा अवश्य ही बिकाश को पाता है ।

सम्पत्त का सेवन

①

मुमुक्षु आत्मा को सम्पत्त की प्राप्ति होने के बाद उसका सेवन किस प्रकार करना चाहिये इस विषय पर श्री उत्तराध्यायन सूत्र में कहा है कि—

परमत्यसंयवोवा, मुदिष्टपरमत्य सेवणावावि ।

वावन कुदंसण वज्जणा इहसमत्तस्ससद्धणा ॥१॥

श्री उत्तराध्यायन सूत्र

अ० १८ गा० ११

भावार्थ—परम अर्थ पानि मोक्ष प्राप्ति का कारण है सम्पत्त ज्ञान का अभ्यास करना और जिनको सम्पत्त ज्ञान चुका है उन महा पुरुषों की सेवा करना इन दो तत्त्वों का सेवन करना और जिनकी श्रद्धा विपरित होगई है उन स्वर्णिगी पासत्था

*पासत्था पृथीलियादि उन्हें कहते हैं जो वैराग्य पूर्वक भयम श्रंगीकार करके भी यथावत् उसका सेवन न करते हुए ढीले पड़जाते हैं और अकल्पनीय वस्तुओंका सेवन करते हैं तथा उत्तर गुण के दोषों का सेवन करते हैं । —सम्पादक

सम्यक्त्व का सेवन

ॐ

मुमुक्षु आत्मा को सम्यक्त्व की प्राप्ति होने के बाद उस सेवन किस प्रकार करना चाहिये इस विषय पर श्री उत्तराख्य सूत्र में कहा है कि—

परमत्थसंथवोवा, सुदिट्टपरमत्थ सेवणावावि ।

वावन कुदंसण वज्जणा इहसमत्तस्ससद्दहणा ॥१॥

श्री उत्तराख्ययन सूत्र

अ० २८ गा० २८

भावार्थ—परम अर्थ यानि मोक्ष प्राप्ति का कारण रूप सम्यक् ज्ञान का अभ्यास करना और जिनको सम्यक् ज्ञान है चुका है उन महा पुरुषों की सेवा करना इन दो तत्वों का सेवन करना और जिनकी श्रद्धा विपरित होगई है उन स्वर्णिगी पासत्था

*पासत्था कुशीलियादि उन्हें कहते हैं जो वैराग्य पूर्वक संयम अंगीकार करके भी यथावत् उसका सेवन न करते हुए ढीले पड़जाते हैं और अकल्पनीय वस्तुओंका सेवन करते हैं तथा उत्तर गुण के दोषों का सेवन करते हैं । -सम्पादक

वस्तु या व्यक्ति को पहिचान करके आदरणीय हो उसे श्रंगीक
करना और त्याग हो उसे त्यागना यह सम्प्रदायक द्रष्टि का विवेक
है किन्तु राग द्वेष नहीं है यदि परीक्षा की उपेक्षा करके केवल
वेषको ही ग्रहण किया जाय तो वह सम्यक्त्व के तीन दोषों में का
अनवस्थापना दोष है । विवेकी सम्यक् द्रष्टि ऐसे दोषों को न
अपनाते हुए परीक्षा बुद्धि से द्वेष उपादेय का यथावत ज्ञान करके
भेदज्ञ करे ।



धर्म या गुरु बुद्धि से नहीं । गोशालक मंखली पुत्र कुछ समय
 वहाँ रहा और सकल पुत्र को भगवान महावीर के सिद्धान्तों से
 पकटाकर अपना अनुययी बनाने की बहुत चेष्टा की किन्तु वह
 अन्त में निराश होकर वहाँ से चला दिया था वह इस प्रकार अपने
 सिद्धान्तों पर अटल एवं द्रढ़ रहता है किन्तु अपने पूर्व परिचय की
 आगे लाकर वास्तविकता को समझने के बाद पक्षपात में नहीं
 पड़ता । पूर्व परिचय के कारण अपने सम्यक्त्व दुपित नहीं करता
 है किन्तु तुरन्त ही उसे सत्य और तथ्य जहाँ दिखे उन्हीं की सेवा
 सुश्रुषा करता है । आज बहुत से लोग सत्य एवं न्याय की उपेक्षा
 करके अपने पूर्व परिचय के कारण असत्य एवं अन्याय का भी पक्ष
 ले बैठते हैं इससे समाज में अत्यधिक विश्रंखलता होकर कलहान्त्रि
 भड़क उठती है जिससे खुदको व अन्य जीवों को महान कर्म व
 होने का निमित्त बन जाता है सम्यक् दृष्टि ऐसा कभी नहीं करे ।



वन्दना करना नमस्कार करना उनके बिना बोलाये एकवार या बार-बार बोलना तथा उनको असन-पान-खादिम सादिम एकवार या बार-बार देना जिसमें राजा, न्यात जात, देव, मातपिता, बलवन्त या आजीविका की कठिनाई इन छः कारणों से मुझे उपरोक्त व्यवहार करना पड़े तो मजबूरी है।

स्कार करते थे केवल जिस प्रतिमा को अन्ययूथिकों ने ग्रहण कर ली है उसे वन्दना नमस्कार अब से करना नहीं कल्पता है इत्यादि प्रतिज्ञा की है और कोई २ प्रतिमें तो अरिहन्त चैत्य शब्द विशेष बना दिया है जिस पर से अरिहन्त प्रतिमा अर्थ होकर अपनी मान्यता की पुष्टि हो जावे परन्तु यह अर्थ असंगत है कारण शास्त्रकार ने प्रतिज्ञा में यह भी बताया कि उन के बिना बोलाये न बोलना उनको आसनादि नहीं देना यह प्रवृत्ति प्रतिमा के साथ कैसे हो सकती? प्रतिमा स्वयं ही नहीं बोलती तब एक बार, बारम्बार बोलावे किसे? प्रतिमा जड़ होने से वह आसनादि लेवे ही नहीं तब देवे किसको? यहां तो चैत्य का अर्थ लिंग (चेप) ही लेना पड़ेगा जिन की श्रद्धा-मान्यता तो अन्य यूथिकों कीसी है किन्तु लिंग साधु का बना रखा है वैसे अन्य यूथिकों के साथ भी उपरोक्त व्यवहार नहीं कहेगा।

२ कोई कोई ऐसा अर्थ भी करते हैं कि आनन्द भावक ने प्रतिज्ञा भगवान महावीर से लेकर साधु सिवाय सब को दान मानादि देने का बन्ध करदिया था इसलिये अपने को भी साधु सिवाय किसी को दानादि नहीं देना यदि दानादि देने में पुण्य होता तो आनन्द भावक ऐसी प्रतिज्ञा

सुश्रुषा करके उनको शातों उपजाना समकित का मुख्य कक्ष है।
इस विषय में आगम प्रमाण भी है यथा:—

सच्चेहिं पिजिणेहिं, दुज्जय जियराग दोसमौहेहिं।
सत्ताणु कम्पणद्धा, दाणं न कहिंचिपडिसिद्धं ॥

भावार्थ—जिनके उपर विजय पाना कठिन है ऐसे दुर्जय र द्वेष और मोह को जिन्होंने जीत लिया है अर्थात् विजय पाये हैं उन सभी जिनों (तीर्थकरों) ने प्राणियों की अनुकम्पा के लिये दिये जाने वाले दान का निषेध नहीं किया है ।

इससे यह स्पष्ट है कि सम्यक् द्रष्टि करुणा बुद्धि से तो अशक्ति अनुसार किसी का भी दुख दूर करने में पश्चात् नहीं रह किन्तु अन्य दर्शनियों का आडम्बर या चमत्कार देख कर प्रमत्त भी नहीं होता और उनकी भाक्ति बहुमान नहीं करता इससे अशक्ति का उसे गौरव रहता है ।



३ निर्वेद-आरम्भ परिवर्तने निवृत्त होने की इच्छा का भोगोंसे उदास रहना निर्वेद कहलाता है ।

४ अनुकम्पा-निर्दोष भावसे पशुपात रहित प्राणियों के दुःख देख कर स्वतः दुःखी होना उनके उपर अनुकम्पा लाना, उ दुःख दूर करने का प्रयत्न करना अनुकम्पा कहलाता है ।

५ आस्था-श्री जिनेन्द्र भगवान के वचनों की पूर्ण रूप से रखना उनमें श्रद्धा प्रतीती और रुची करना इहलोक परलोक, नर्कादि वर्णन पर विश्वास करना ।

कोई २ सूत्र वाक्य समझमें न आवे तब ऐसा म समस्तोप करना कि जिनेन्द्र भगवान के वचन अगाध आश लेकर है मेरी बुद्धि की न्यूनता है जो मैं इनके मर्मको पहुँच पाता जब विकास बढ़ेगा तब समझ सकूँगा ।



२ कांक्षा-मिथ्यात्व मोहनीय के कारण अन्य दर्शन प्रत्यक्ष सम्पुष्टन भी परिणामों को कांक्षा कहते हैं कांक्षा नाम - पांशु का है अन्य दर्शनों में भी अहिंसा सत्य आदि का उपदेश दे और उनका आचरण भी सरल दे अतः ये दर्शन भी श्रम्य हैं इस प्रकार अभिजाता होना अथवा धर्मराजन में देवादि का सहाय धंष्टना या लब्ध्यादि प्रवृद्धि-सिद्धि की अभिलाषा करना कांक्षा नामक दूसरा दोष है ।

३ विचिकित्सा-धर्म करणी के फल में संदेह करना-यथा में जो तप करता हूँ । कष्ट सहता हूँ क्लेश उठाता हूँ इसका फल मुझे होगा या नहीं अथवा सम्पत् चारित्र ही मोक्ष का दाता है । किन्तु चारित्र का पालन ब्रह्मचर्य की गुप्ति पर निर्भर है ब्रह्मचर्य की गुप्ति के लिये शरीर की सुश्रुषा नहीं करने से मुनि महत्मा को मलीन देख कर घृणा करना भी विचिकित्सा नामक दूषण है ।

४ परपापण्ड प्रसंशा-सर्वज्ञ वीतराग देवके सिद्धान्तों से जिनकी विपरीत मान्यता एवं वेप भी विपरीत है उन अन्यदर्शनीयों की या उनके मन्तव्यों की प्रसंशा करना ।

५ परपापण्ड संश्रयो-उपरोक्त अन्यदर्शनीयों का सहवास आना जाना बोल चाल, खान पान, लेन देन आदि गाढ़ सम्बन्ध घटाना सम्पत्त्व में दुषण है ।

ये पांच दूषण तथा अतिचार भी है इनका केवल स्वरूप समझ कर इनसे बचना चाहिये किन्तु आचरण में लाने योग्य नहीं हैं ।

४ स्थिरता—परवादियों के आडम्बर तथा जैन दर्शन प्रवर्तती हुई वर्तमान कालीन साधुओं की शिथिलता देख कर सम्यक् द्रष्टि अपनी धैर्यता नहीं त्यागता अपितु स्थिर एवं रहता है ।

५ भक्ति—जैन दर्शन में साधु श्रावकों में गुणीजनों के विशेष भक्ति बहुमान प्रदर्शित करना और उनके उत्तम गुणों जनता में विकासित करना ।



रहते है वास्तव में तो प्रभाव कहीं प्रभावना कर सकते हैं वे आठ प्रकार के हैं ।

१ प्रवचनी-प्रवचन के धारक आचार्य उपाध्यायों महत्पुरुषों का आगमन होकर उनका प्रवचन होना जैन शास्त्र की प्रभावना है ।

२ धर्मकथी-आक्षेपणी विक्षेपणी सम्वेगणी और निर्वेदक इनचार प्रकार की धर्म कथाओं के द्वारा जनता के मन में प्रेम भावना जागृत करना जैन शास्त्र की प्रभावना है ।

३ वादि-राज्य सभा में अथवा आम सभा में न्याय पूर्व वादीके पक्ष का खंडन करके जैन सिद्धान्त की विशिष्टता सिद्ध करना और शासन का गौरव बढ़ाना प्रभावना है ।

४ नैमित्तिक-त्रैकालिक लाभ लभ सुख दुख बताने वाले ग्रन्थों का अध्ययन कर प्रसंग पडने पर उसका उपयोग करके जनता की दृष्टि में जैन शास्त्र का महत्व अंकित करना सम्यक्त्व की भावना है ।

५ तपस्वी-अनेक प्रकार की विकट तपस्या करके जैन शासन का महत्व दिखाना एवं तप पर रुची पैदा करना सम्यक्त्व की प्रभावना है ।

६ विद्यावन्त-प्रज्ञादि विद्या सिद्ध करके उनके द्वारा जैन शासन का महत्व प्रकट करना भी सम्यक्त्व की प्रभावना है ।

सम्यक्त्व करने के यत्न

ॐ

नोअन्नतित्थिएय, नतित्थिदेवेय तहसदेवाई ॥
 गहिएकुतित्थिएहिं, वन्दनामि नवा नमंसांमि ॥१॥
 नेव अणालत्तोआ, लवेमि नोसंलवेमितेहत्तिं ॥
 देमिन अएणाइअं, पेसेगिनगंधपप्फाई ॥ २ ॥

भावार्थ-ऊपर जो आगार बताये हैं वे केवल अपवादस्वरूप और कठिन प्रसंग प्राप्त होने परही उनका उपयोग किया जाय परन्तु साधारण तौर पर समष्टि अपनी सम्यक्त्व का यत्न करने के लिये अन्यतिथियों के साथ शिष्टाचारादि छः व्यवहार नहीं करे। जिनके नाम-

- १ अलाप-एकबार बोलना ।
- २ संलाप-बार २ बोलना ।
- ३ दान-उनको गुरुबुद्धि से आसनादि प्रतिलाभित करना ।
- ४ मान-उनके आने पर खड़ा होकर आसनादि देकर बहुमान करना ।
- ५ वन्दना-गुरुबुद्धि से गुणगान करना ।
- ६ भक्तिपूर्वक नमस्कार करना-यें छहों व्यवहार कुगुरुओं साथ न करे किन्तु सद्गुरु के प्रति करे ।

मैंने जो करणी का है उसका फल अवश्य लगेगा ऐसी आस्ता रखें परन्तु वर्तमान अवस्था को देखकर यह भावना नहीं लवें कि मुझे तब समय आराधते हुए करणी करते हुए इतना समय होगया कि मैं मुझे कोई लाभ नहीं हुआ इत्यादि विचिकित्सा करना है अथवा जैन दर्शन में अन्य तो सब अच्छा है किन्तु न्दाना-धोना और सुश्रुता करना मना होने से साधु मुनि मैले कुत्रेले रहते हैं इत्यादि दुगच्छा करना विचिकित्सा है और ऐसा न करना ही निर्विचिकित्सक गुण है।

४ किसी समय चमत्कारादि कारणों से अन्य दर्शनों का प्रचार अधिक बढ़ता देखकर व्यामोह में फसना अथवा जिस दर्शन के अनुयायी राजा महाराजा बड़े २ श्रीमन्तों या विद्वानों को देख कर उसे महत्त्व देना और सर्वज्ञ वीतराग प्रणिता सत्य धर्म के प्रति अरुची करना ही मूढ़ दृष्टि है। इस मूढ़ता से वचना और बाहरी दिखावे स्वरूप ढोंग से प्रभावित न होना ही अमूढ़ दृष्टि नामक चतुर्थ गुण है।

५ उबबुह किसी सदाचारी मनुष्य के शान्ति धैर्य क्षम उपसमतादि गुणों की प्रशंसा करके उसका उत्साह बढ़ाना उपष्टन नामक गुण कहलाता है अथवा धर्म कार्य में उत्साह का होने गुण वृद्धि की अभिलाषा करना भी उत्प्रेक्षा कहलाता है। यह सम्यक्त्व का गुण है।

६ खेद पाते हुए धर्म से डिगते हुए अस्थिर आत्मा सदापता देकर प्रोत्साहन देना उसे द्रढ़ बनाना ही स्थिरीकरण है।

से भी प्रेम स्फूरे आदर पूर्वक उनका खान पान मिष्ट संभोग आदि से स्वागत करे और ऐसा सुअवसर प्राप्त होने के लिये अपने को कृत कृत्यमाने यही वात्सल्य गुण है ।

८ जिस कार्य के द्वारा जनता में जैन दर्शन का महत्व बढ़े जिसके उच्च एवं आदर्श सिद्धान्तों का जैनेतर समाज पर प्रभाव पड़े और वे वीतराग धर्म प्रति आकर्षित होकर भक्ति बहुमान धारण करे उन्हें अपनाने के लिए लालायित ऐसे कार्य करना ही प्रभावना गुण है ।

प्रभावना प्रभावक के आश्रित है । अतः सम्यक्दृष्टि को प्रति समय विवेकपूर्ण ऐसी प्रवृत्ति करना चाहिये, ऐसे कार्य करना चाहिये जिससे जैन दर्शन के प्रति जैनेतर जनता सद्भावना बढ़े, भक्ति बहुमान पैदा हो परन्तु ऐसी प्रवृत्ति न होनी चाहिये जैन दर्शन के प्रति उन्हें घृणा पैदा हो । *

❁ कितनेक लोग उपर से तो धर्मों होने का ढोंग करते हैं धर्म करणी का सेवन आचरण भी करते हैं परन्तु उनके विचार तथा कर्तव्य ऐसे होते हैं जिससे लोगों को धर्म के ऊपर अनादर होने लग जाता है धर्म से आस्था उठ जाती है और उन धर्म में ढोंगियों के कारण धर्म का अपवाद होने लगता है इस लिये धर्म का आचरण करने वालों को अपना आचरण व भावना नीति पूर्वक पवित्र रखना चाहिये नैतिकता धर्म का पाया है जिसके बिना धर्म टिक ही नहीं सकता ।

समाकित छप्पत्ती

[सुश्रावक आ दलपतरायणी कृत भावार्थ सहित]



इमसमाकित मन स्थिर करो पालोनिरति चार ॥

मनुष्य जनमछे दे हिलो, भमतां जगत मभार इम ॥१॥

भावार्थ--इस प्रकार समाकित के अन्दर मनको स्थिर करो और निरतिचार पालन करो । क्योंकि संसार में भ्रमण करते हुए आत्मा को मनुष्य जन्म को प्राप्ति होना बहुत कठिन है ॥१॥

चार अंग की प्राप्ति

नरभव आरजकुलतिहां सुणवोजिनवाणी ॥

होइयथारथसद्दा, उचअंग दुल्लज्जानि इम ॥२॥

भावार्थ--मनुष्यभव आर्य कुल में जन्म, जिनवाणी का श्रवण और उसपर यथार्थ श्रद्धाका होना ये चार सम्यक्त्व के अंग हैं जो प्राप्त होना बड़ा ही दुष्कर (कठिन है) ॥२॥

सम्यक्त्व की बाधक वृत्तियों

आरम्भ परिग्रहदेईए तेवीषयकपाय ॥

जबलगपत लानापड़े, नहीं समाकितआय इम ॥३॥

काम की प्राप्ति होती है निम्नो यत् आत्मा आने निमम
को भूत जाता है इस भूतका भाव होना ही सम्पत्ति
प्राप्ति है ॥५॥

सर्व जीव पर समभाव

आत्मसमष्टिदृष्टागच्छे, दुःखनिश्चयभिलाषा ॥

परलोक परवशनाश्वो जिनआत्ममत्ताम् इम ॥६॥

भावार्थ-समष्टि आत्मा या निरन्तर करता है कि जैसे
अपना जीवन प्रिय और गुण अभिष्ट है वैसे ही (पृथ्वी, अप,
वायु, वनस्पति और त्रय) उदा काय के जीवों को दुःख
और सुख प्रिय है तथा कर्द माना नहीं चाहता फिर भी मा ११
पर लोक में परवश होकर जाना ही पड़ता है जेनागम इस के शरी
भूत है अतः सब जीवों को आत्म समान समझना चाहिये ॥६॥

कर्म की विचित्रता

सम्पत् विपत् सुखी दुःखी, मुद चतुर मुजान ॥

नाटक कर्मना जाणजो जग नाना विधान ॥ इम ॥ ७॥

भावार्थ-सम्पत्ति, विपत्ति, सुखी अवस्था मुद और चतुर
सब कर्म के नाटक हैं जैसे शुभाशुभ कर्मों का उपार्जन किया है
वैसी ही अवस्था का अनुभव करना पड़ता है । जगत की अनेक
प्रकार की रचना देख कर सम्यक् दृष्टियों विचारे कि यह सब का
का विचित्रता है ॥७॥

संवर रोके आवतां, खीन तपथी होय ॥

तेहनो नामछे निर्जरा मोक्ष कारण दोय ॥ इम ॥११॥

भावार्थ--संवर उमे कहते हैं जो आते हुए कर्म प्रवाह को रोके जैसे सरोवर में नालों द्वारा आते हुए पानी को पटिया या भेती खड़ी करके रोका जाता है इसी तरह वनादि द्वारा कर्म प्रवाह के रोकने को संवर कहा है और जो संचय हो रहा है उसे तयादि द्वारा शोषण किया जाय इसे निर्जरा कहते हैं । ये संवर और निर्जरा ही मोक्ष के कारण हैं । इन दो के द्वारा आत्मा कर्म रहित होता है और कर्म रहित होना मोक्ष है ॥११॥

पहली त्रिकमन धारिये, जेय बीजी हेय ॥

तीजी उपादेय जाणिये इम समकित सेय ॥ इम ॥१२॥

भावार्थ--उपर ६ वीं १० वीं और ११ वीं गाथाओं में नव तत्वों का स्वल्पा दशाया है जिनके तीन विभाग किये गये हैं । पहली त्रिक (जीव अजीव और बन्ध) जानने योग्य (ज्ञेय) है । दूसरी त्रिक (पुण्य पाप आश्रव) त्यागने योग्य (हेय) और तीसरी त्रिक (संवर निर्जरा और मोक्ष) आदरने योग्य (उपादेय) मान कर समकित का सेवन करो ॥१२॥ *

*त्रिकों में पुण्यको हेय यानि त्यागने योग्य बताया वह अन्तिम ध्येय की अपेक्षा से है । क्योंकि पुण्यको भी त्याग बिना मोक्ष नहीं होता इसका मतलब यह नहीं कि प्रारम्भ से ही पुण्य त्यागने योग्य हैं यदि ऐसा मान कर शुभ योगों को

पुण्य पाप का फल भोग्यता है इस श्रद्धा का नाम आस्तिकता है ।
यह पांचवां लक्षण है ॥ १५ ॥

श्रद्धा प्रतीत रूची के विषय में

तरक अगोचर श्रद्ध हो द्रव्य धर्म अधर्म ॥

कैह प्रतीतो युक्ति सों पुण्य पाप सकर्म ॥ इम ॥ १६ ॥

भावार्थ—जो तत्व द्रष्टि गोचर नहीं होते हैं जिसमें हमारी तर्क नहीं चलती है किन्तु विशिष्ट ज्ञानियों ने सूत्रों में प्रतिपादन किये हैं ऐसे धर्मास्ति अधर्मास्ति आदि द्रव्यों को मानना उनपर विश्वास करना ही श्रद्धा है संसार में सुखी दुखी देखकर युक्ति पूर्वक पुण्य पाप का निर्णय करना प्रतीत कहलाता है ॥ १६ ॥

तप चारित्र ने रोचयो कीजे तस अभिलाष ॥

श्रद्धा प्रत्यय रूचीतिहु जिन आगम सास ॥ इम ॥ १७ ॥

भावार्थ—मोक्ष के साधन भूत समकित सहित तप और चारित्र के प्रति रूची पैदा होना और शक्त्या नुसार कार्य रूप में लाने की अभिलाषा करना ही सम्पत्त्व की श्रद्धान् है इन तीनों का होना समद्रष्टि के लिये आवश्यक है ऐसा जेनागम का कथन दे ॥ १७ ॥

विपरीत मानने पर मिथ्यात्व होता है

पंथ धर्म जीय साधु छे सिद्धवतर जानि ॥

एह यथार्थ जानिये संभ्रा दश निधि मानि ॥ इम ॥ १८ ॥

सम्यक्त्व के आठ आचार

शंका कंखा कर रहित, वित्तिगिन्झाजी नांय ॥

दिष्टे अमूढ स्थिरिकरण, जिनमत के मांय हम ॥३२॥

भावार्थ—जिन दर्शन यानि वीतराग के मोक्ष मार्ग में जिनको शंका १ कांक्षा २ एवं वित्तिगिच्छा नहीं हैं तथा अमूढ दृष्टि होना अर्थात् अन्य दर्शनियों का आडम्बर या महत्व देखकर जो भूलाव में न पड़े इसी तरह कोई धर्म से डिगता होतो उसे स्थिर को शंकादि तीन दोष में की व्याख्या आगे अतिचारों की व्याख्या में आवेगा ।

धर्मविषेउच्छाहना तस उवबहनाम ॥

होई प्रभावनाआठए आचारेना ठाम हम ॥३३॥

भावार्थ—धर्म के विषयमें उत्साह का होना इसे उवबह कहते हैं और प्रभावना ये आठ आचार सूत्र में कहे हैं ॥३३॥

नोट—गाथा में वात्सल्यता का नाम नहीं आया है सो सातही होते हैं परन्तु चाहिये आठ इसलिये वात्सल्य गुण भी कहना यह सातवां आचार है वात्सल्यता का अर्थ अपने स्वधर्मों के साथ प्रेम पूर्ण व्यवहारक करना मान पान लेन देन आदर स्तुकार आदिसे इनका प्रेम पोषण करना वात्सल्य गुण है और अन्य दर्शनियों पर जिन दर्शन का महत्व प्रकट करने वाले कार्य करना और उनको जिन दर्शन के प्रति आकर्षित करना प्रभावना गुण है । इन आठमें प्रथम के चार त्रिवृत्ति रूप और पिछले चार मूर्खता हैं ।

भावार्थ—धर्म कार्यों में देवादि का सहाय वञ्चना अथवा लब्धी आदि ऋद्धि सिद्धी की अभिलाषा करना भी कंखा नाम का द्वितीय अतिचार है ॥३७॥

तप चरित्र का फल विषे, वितिगिच्छासन्देह ॥

साधुउपाधि मलीन लखी दुर्गिच्छाएह ॥ इम ॥३८॥

भावार्थ—तप चरित्र यानि धर्म करणी के फल में सन्देह करना कि इतने २ वर्ष होगये धर्म ध्यान त्याग प्रत्याख्यान करते हुए परन्तु मुझे अभीतक कोई लाभ नहीं हुआ तो धर्म करणी का फल मिलता है या नहीं ऐसा सन्देह होना अथवा साधु मुनिराजों की उपाधि मलीन देख कर मैले कुचैले देख कर दुर्गिच्छा करना यह वितिगिच्छा नाम का तीसरा अतिचार है ॥३८॥

संसारकर्तव्य सिद्धको, परज्जेधर्म ॥

सबही अतिचार उपजे सममोहनो कर्म ॥ इम ॥३९॥

भावार्थ—सासारिक कार्य की सिद्धिके लिये धर्म का प्रयोग करना अथवा गेरा यह कार्य हो जावेगा तो मैं यह करूंगा इस प्रकार संकल्प करना इसमें सब ही तानों अतिचार पैदा होते हैं ॥३९॥

पापत्यादि कुदर्शनी जेदशिचिल आचार ॥

निन्दवजेय अनाधु छे जेस परिहार ॥ इम ॥४०॥

पोषण देना [आचरण करना] ये सम्यक्त्व की विराधना के हेतु हैं तथा—

निमित्त करी आजीविका, जेहथी असुरज थाय ।

चारपदे समोदाछे, तेथी समकित जाय ॥ इम ॥ ४३ ॥

भावार्थ—आजीविका के लिये निमित्तादि बताना ये चारों अधिक बढ़ना सम्यक्त्व को गुमाना है इनके सेवन से सम्यक्त्व चला जाता है ॥ ४३ ॥

उन् मारगनी देशना, पंथ विघन सुजाण ।

गिरधी भाव विषय तणा, काम भोगनिदान ॥ इम् ॥ ४४ ॥

भावार्थ—उन्मार्ग की परूपणा यानि जैन सिद्धान्त से विपरीत परूपणा करना उत्तम पंथ में विघ्न डालना काम भोग में गृद्धि भाव रखना काम भोगादि का निदान करना ये भी सम्यक्त्व को नष्ट करना है ॥ ४४ ॥

अरिहन्त धर्म तथा गुरु, संघ अवरणवाद ॥

एह थी किलमिपता लेहे, मिथ्यामति उत्पाद ॥ इम ॥ ४५ ॥

भावार्थ—अरिहन्त सिद्धादि केवली भगवान, धर्म, मोक्षमार्ग, माधु साध्वी श्रावक श्राविका रूपसंघ तथा उपकारी आचार्य उपाध्यायादि गुरुवर्य इनका अवगुणवाद बोलना निंदा करना इन कायों

अखज खाना पीना ये सब नरक भूमि की प्राप्ति के कारण इन कामों से नरक की प्राप्ति होती है ॥४८॥

माया करे तस गोपते, कुड़ा देवे आल ॥

कुड़ा मांपा तोल ते तिर्यंकबन्धे काल ॥ इम ॥ ४९॥

भावार्थ--माया यानि कपट करे, तथा करके उसे छिपावे अर्थात् सफाई दिखावे, झूठा आल देवे, खोटा तोल माप करे इन से तिर्यच गति का बन्धन होता है ॥४९॥

उपरोक्त गाथाओं में कवि ने ऐसे कामों का दिग्दर्शन कराया है जिनके आचरण से सम्यक्त्व की विराधना होती है तथा समूल नष्ट हो जाती है। तभी ऐसे स्थानों का आयु बन्ध होकर उन स्थानों में जाना पड़ता है।

व्यवहार सम्यक्त्व के लक्षण

चारित्र दर्शन ज्ञान को, कीजिये अभ्यास ॥

संगत कीजे साधुनी, जेह छे जगथी उदास ॥ इम ॥ ५०॥

भावार्थ--ज्ञान दर्शन चारित्र की प्राप्ति का उपाय (अभ्यास) करो, इन की वृद्धि के कारण भूत साधु महापुरुष जो भगत की रचना से उपेक्षित रहते हैं उनकी संगति (सेवा तथा) करो ॥५०॥

भृष्ट कुदर्शन की तजो, संगति ए व्यवहार ॥

समकित ना तुम जाणजो इह चार प्रकार ॥ इम ॥ ५१॥

छः बड़ी पंच (विरादरी) बलवान और आजीविका इन छः के दबाव से करना पड़े तो आगार है ॥५२॥

न्याय करे न्याय भापई, न्याय को पचपात ॥

न्याय किया रे मन धरे, लजा नीति की बात ॥ इम ॥५३॥

भावार्थ--सम्यक् दृष्टि न्याय करे न्याय बोले, न्याय का पक्ष करे न्याय ही विचारे और दिल में लजा नीति की बात को ही स्थान दे ॥५३॥

ज्यां को बल्लभ न्याय है, न्याय ही को आचार ॥

न्याय ही सुं सब ही करे, वृति आव्यो आहार ॥ इम ॥५४॥

भावार्थ--जिनको न्याय ही प्रिय है, न्याय ही का आचार है, न्याय ही से आजीविका करके आहार करते हैं ये सम्यक् दृष्टि का कर्तव्य है ॥५४॥

नौ तत्व जान सहाय न वंछे, डिगे नहीं देव अदेव डिगाये ।

दोष विना धरे दर्शन को जिन सर्व अर्थ दिए गुजाये ॥

धर्म को राग रंग्यो हिरदे, अति धर्म करे आपस में मिलाये ॥

नेर्मल चित्त अभंग दुवार, अन्तै उर नाहि पग्रिह नाये ॥५५॥

भावार्थ--सम्यक् दृष्टि नव तत्व की जानकारी करना सदायता वंछना देव असुर के डिगाये न डिगे शुद्ध सम्यक्त्व का पालन

भूल भुलैया से बचनेके लिये संक्षिप्त स्वरूप का दर्शन



जहाँ तक आत्माको भेद विज्ञान नहीं होता आत्मा अनात्मा का प्रयक्करण नहीं होता वहाँ तक आत्मा ऊपर ऊपर के क्रिया काण्ड या वेप भूपा को ही महत्व देकर उसी में धर्म का सर्वांश मान बैठता है और अन्य सर्व दृष्टियों को गौण करदेता है इतना ही नहीं थापउत्थाप भी कर बैठता है अपने समाज सिवाय सबको मिथ्यात्वी पाखण्डी मानकर अपनी कषायों को घटाने उपशान्त बनाने की अपेक्षा बढ़ा लेता है इसी कारणसे सर्वज्ञ प्रणीत इस अनेकान्त विशाल जैन धर्म में भी अनेक भेदोपभेद एवं शाखा प्रति शाखाएं उत्पन्न होगई हैं । सर्व दर्शनों का समन्वय करने वाले इस जैन दर्शन के भी प्रयक् २ (टुकड़े रूप) विभाग होगये हैं । मुमुक्षुओं को इनका स्वरूप समझने के लिये संक्षिप्त विवरण दिया जाता है ।

इस जैन दर्शन में भगवान महावीर के निर्वाण के बाद सबसे प्रथम जैन धर्मानुयायीओं में विविध विधान स्वरूप क्रिया काण्डों को लेकर दो भेद हुएये यथा उत्कृष्ट १ मार्गी तथा मध्यममार्गी २ । ये भेद

1
2
3
4

के विवेकचक्षु खोलने का कार्यारम्भ किया वह विभूति श्रीमान् धर्मोद्धारक लोकाशाह थे । उनकी सिद्धान्तानुकूल वाणी को श्रवण कर सं० १५३१ विक्रमी में ४५ भव्योने वीतराग प्रणित शुद्धमुनि दीक्षाधारण की उस गच्छका नाम श्री लोकागच्छ रखा गया यही परम्परा साधुमार्गी (स्यानकवासी) जैन समाज के प्रचार का मूल है । यद्यपि पंजाब आदि देशों में सुसाधु थे किन्तु प्रकाश में लोकाशाह के प्रचार के बाद आये ।

इस अवसर्पिणी काल के प्रभाव से कोई भी उत्तम अनुष्ठान से उद्देश्य उसी उपरूप में टिकता नहीं किन्तु विकृति एवं शिथिलता प्रवेश कर ही जाती है इस नियम के अनुसार लोकागच्छ में भी शिथिलता आई तब कई एक मुमुक्षु (मोक्षमार्ग की इच्छावाले) ये उन्होंने जूड़े विचार कर बहुत उपक्रिया की तथा विरोधियों के तरफ से प्राप्त परिसहों उपसर्गों को सहन कर साहसिकता का परिचय दिया किन्तु विधि विधान के क्रियाकाण्डों की समाचारी में अन्तर पड़नेसे तथा कुछ क्षेत्र भेद से यह समाज अनेक गच्छ उपगच्छों में विभक्त होगयी यद्यपि यह स्यानकवासी समाज बाईस सम्प्रदायके नामसे प्रसिद्ध है किन्तु कई उपभेदों से संख्या बढ़ती ही जाती है । इनमे परस्पर आचार विचारकी सामान्य या विशेष भिन्नता अवश्य है जो साहसिकता धारण करने व प्रयत्न करने पर दूर होसकती है । श्रद्धा प्ररूपणा की मुख्य २ बातें समान ही हैं ।

व्यवहार है धर्म नहीं है। द्रोपदी की जिन पड़िमा पूजनके वर्णन में भी कुछ निराळा ही आशय है वह उस समय अपने लिये योग्यपति प्राप्त करके इहलौकिक सुख पाने की इच्छुक थी न कि धर्म भावना की। कारण वह पूर्वभव से निदानकड़ा थी सो जहाँ तक निदान न फले सम्यक्त्व प्राप्त नहीं कर सकती इस लिये वह कामदेव रूप जिन की भक्ता थी और इसी भावना से गई थी। श्री हेमव्याकरण में चार प्रकार के जिन बताये हैं यथा अर्हत् १ तीर्थंकर, सामान्य केवली २ नारायण ३ कामदेव ४ इन दो वर्णन के सिवाय जैनगमों में मूर्तिपूजा का कोई वर्णन नहीं है। इसलिये सम्मक् दृष्टि विवेकी श्रावक को त्याग वैराग्य द्वारा आत्मत्याग करना ही कल्याण कारक है और यही श्रावक के लिये विधेय है इन वर्णनों का श्रावक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है।

इस समय मूर्तिपूजक श्वेताम्बर समाजमें भी अवान्तर भेद कई होगये हैं यथा चार थूई तीन थूई खरतरगच्छ तपागच्छ आदि चौरासी गच्छ बतलाये जाते हैं अमूर्तिपूजक जैन समाज में भी कुछ साधुओं की विपरीत परुषणा के कारण पूज्य आचार्य श्री रघुनाथजी महाराजने भीखमजी आदि कुछ साधुओं को सं. १८१५ में प्रथक् करदिये थे उन्होंने 'तेरह पन्थ' नामसे जुदा पन्थ कायम किया। इसका प्रचार मेवाड़ तथा नारवाड़ की स्थली में विशेष है इसके कुछ सिद्धान्त बड़े ही हास्यास्पद है संसारके आस्तिकवादी सभी दर्शनों से इस मजहब

सम्यक्त्व प्राप्ति की भावनाएं



प्रत्येक मुमुक्षु प्रतिदिन इन भावनाओं को विकसित करे

जैन दर्शन में आरम सिद्धी प्राप्ति करने के लिये तीन तत्व की प्राप्ति और उनकी आराधना मुख्य कही हैं यथा ज्ञान दर्शन चारित्र्य तीनों की सम्पक् आराधना ही मोक्ष मार्ग है तत्त्वार्थ सूत्रका प्रथम सूत्र यह है कि—

“सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्र्याणि मोक्ष मार्गः॥”

दर्शन ज्ञान और चारित्र्य के साथ सम्पक् शब्द जोड़ने का खास आशय यह है कि यही तीन मिथ्या भी होते हैं मिथ्या दर्शन ज्ञान एवं चारित्र्य संसार वृद्धि का कारण है इसलिये मोक्ष मार्ग के हेतु भूत सम्पक् दर्शन ज्ञान एवं चारित्र्य ही है ।

तीनों में सम्पक् दर्शन मुख्य है दर्शन रहित ज्ञानको ज्ञान नहीं किन्तु अज्ञान कहा है तथा उनके चारित्र्य भी नहीं माना है । चारित्र्य की वृत्ति भले ही हो परन्तु सम्पक्त्व न हो तो वह भी कार्य साधक नहीं है इसलिये दर्शन ही मुख्य है इसके सद्भाव में हो ज्ञान सम्पक्

रहित शुद्ध आत्मस्वरूप में रमणता ही निश्चय धर्म है । ऐसे देवगुरु धर्म का स्वरूप की प्राप्ति शीघ्र हो ।

५ तत्वों में अरुची रूपी मिथ्यात्व दूर हो और गाढ़रुची प्रकट हो ।

६ भय द्वेष ईर्ष्या आदि दुर्गुण हट कर निर्भयता एवं समभव की वृद्धि हो ।

७ शरीर तथा अन्य पदार्थों को अपने मानकर इनके लिये हिंसा एवं विषय कषय का सेवन करता हूँ सो मेरा भ्रम दूर हो ।

८ आत्मा से भिन्न पदार्थों को अपने मानने रूप परभाव का आचरण कर रहा हूँ सो मेरा मोह हठ कर शुद्ध ज्ञान स्वरूप आत्मा ही मेरा सत्स्वरूप है ऐसी दृढ़ श्रद्धा हो व यह गुण विकसित हो ।

९ अनादिकालसे मिथ्यात्व वश अज्ञान द्वारा इन्द्रिय सुखों को ही सुख मानता हूँ उस विपरीत बुद्धि का नाश हो और स्व पर प्रकाशक श्री वीतराग वाणी को श्रवण मनन करने की जिज्ञासा जागृत हो ।

१० विषय सुख की इच्छा का कोप हो और आत्मिक सुख की भावना जागृत हो चाह नष्ट हो और अचाह गुण प्रकट हो ।

११ आकुलता परवस्तु की अभिलाषा ही आत्म भान नष्ट करने वाला भाव रोग है जिसका नाश हो और निराकुलता परवस्तु का इच्छा का त्याग रूपी शान्ति रस (समभाव) की अभिवृद्धि हो ।

१५ शरीर मोह होने से मुझे शरीरधारी होकर जन्म मरण करना पड़ता है वास्ते शरीर का मोह नष्ट होकर आत्म स्वरूप का विकास शीघ्र हो ।

१६ मैं शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, अमूर्त हूँ, निर्ममत्व हूँ, पुद्गला से भिन्न हूँ, ज्ञान दर्शन से अभिन्न हूँ, आनन्द स्वरूप हूँ, अतीन्द्रिय निराकुल एवं आत्मिक सुख से भरपूर हूँ, किन्तु पर द्रव्य पुद्गल पर्याय में आपा मानने से सच्चे स्वरूप को भूल रहा हूँ, वह मेरा आत्म भान शीघ्र ही जाग्रत हो पर भाव दूर हो ।

१७ इन्द्रिय सुखमें आनन्द और दुःख में खेद करने रूप विभ्रम द्रष्टि की नाश हो और इनसे आसक्ति दूर हो ।

१८ सद्ज्ञान प्राप्ति के दिव्य चक्षु उदित हों मोह जन्य अन्धकार दूर हो—

१९ जैन दर्शन का अनेकान्तवाद, नयविचार, केवलवाद चर्चा का विषय ही न रहे । इनको सच्ची समझ और परिणामन मेरी आत्मा में समभाव की वृद्धि करें ।

२० विषयों का साधन भूत शरीर, धन, सम्पत्ति स्त्री पुत्रादि पाँचवार में अपनेपन की बुद्धि दूर हो और ज्ञान दर्शन चारित्र्यदि स्वगुणों में मेरी रुची जाग्रत ।



करुणा वत्सल सुजनता, आत्मनिन्दा पाठ ॥

समता भक्ति विरागता, धर्म राग गुण आठ ॥१॥

२८ समकित के पांच भूषण जो समकित को दिपाते हैं मुक्त में प्रकट हो ।

चित्त प्रभावना भावयुत, हेय उपादेय जाणि ॥

धीरज हर्ष प्रवीणता, भूषण पांच वखानि ॥१॥

भावार्थ—स्वयं में और दूसरों में ज्ञान की वृद्धि करे, १ विवेक पूर्वक सत्य प्रिय एवं हितकर बोले, २ दुःख में धैर्य रखे सत्य को नहीं त्यागे, ३ सदा सन्तोषी रहे और ४ तत्व में प्रवीण होवे ।

२९ समकित का विनाश करने वाले पांच दूषणों से सदा बचता रहूँ जैसे—

ज्ञान गर्व १ मतिमन्दता २ निष्ठुर वचन विचार ३ ।

रोद्रभाव ४ आलस्य दशा, नास ये पांच प्रकार ॥ १ ॥

३० जाति मदादि आठ मद जो समकित के शत्रु हैं वे मुझसे दूर रहें उन्हें जरा भी स्थान न दूं ।

३१ सिद्धों का स्वरूप और मेरा स्वरूप एक समीक्षा है अन्तर सिक्त कर्म मल का है जिन्हें मैं शीघ्र दूर करने का प्रयत्न

१५ शरीर मोह होने से मुझे शरीरधारी होकर जन्म मरण करना पड़ता है वास्ते शरीर का मोह नष्ट होकर आत्म स्वरूप का विक्राम शीघ्र हो ।

१६ मैं शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, अमूर्त हूँ, निर्ममत्व हूँ, पुद्गलो से भिन्न हूँ, ज्ञान दर्शन से अभिन्न हूँ, आनन्द स्वरूप हूँ, अतीन्द्रिय निराकुल एव आत्मिक सुख से भरपूर हूँ, किन्तु पर द्रव्य पुद्गल पर्याय में आपा मानने से सबे स्वरूप को भूल रहा हूँ, वह मेरा आत्म भान शीघ्र ही जाग्रत हो पर भाव दूर हो ।

१७ इन्द्रिय सुखमें आनन्द और दुःख में खेद करने रूप विभ्रम द्राष्टि की नाश हो और इनसे आसक्ति दूर हो ।

१८ सदज्ञान प्राप्ति के दिव्य चक्षु उदित हों मोह जन्य अन्धकार दूर हो—

१९ जैन दर्शन का अनेकान्तवाद, नयविचार, केवलवाद चर्चा का विषय ही न रहे । इनको सबी समझ और परिणामन मेरी आत्मा में समभाव की वृद्धि करें ।

२० विषयों का साधन भूत शरीर, धन, सम्पत्ति स्त्री पुत्रादि पांगवार में अपनेपन की बुद्धि दूर हो और ज्ञान दर्शन चारित्रादि स्वगुणों में मेरी रुची जाग्रत हो ।

करुणा वत्सल सुजनता, आत्मनिन्दा पाठ ॥

समता भक्ति विरागता, धर्म राग गुण आठ ॥१॥

२८ समकित के पांच भूषण जो समकित को दिपाते हैं मुक्त में प्रकट हो ।

चित्त प्रभावना भावयुत, हेय उपादेय जाणि ॥

धीरज हर्ष प्रवीणता, भूषण पांच वखानि ॥१॥

भावार्थ—स्वयं में और दूसरों में ज्ञान की वृद्धि करे, १ विवेक पूर्वक सत्य प्रिय एवं हितकर बोले, २ दुख में धैर्य रखे सत्य को नहीं त्यागे, ३ सदा सन्तोषी रहे और ४ तत्व में प्रवीण होवे ।

२९ समकित का विनाश करने वाले पांच दूषणों से सदा बचता रहूँ जैसे—

ज्ञान गर्व १ मतिमन्दता २ निष्ठूर वचन विचार ३ ।

रोद्रभाव ४ आलस दशा, नास ये पांच प्रकार ॥ १ ॥

३० जाति मदादि आठ मद जो समकित के शत्रु हैं वे मुझसे दूर रहें उन्हें जरा भी स्थान न दूं ।

३१ सिद्धों का स्वरूप और मेरा स्वरूप एक सीखा है अन्तर सिर्फ कर्म मल का है जिन्हें मैं शीघ्र दूर करने का प्रयत्न करूँ और अपने स्वरूप को प्राप्त करूँ ।

